



अर्थहीन भारतीय किसान, आत्महत्या और 'फॉस'

देश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि है। आज भी बहुसंख्यक आबादी खेती पर निर्भर है। किसान भारतीय समाज और संस्कृति की रीढ़ रहा है। सदियों से किसान एक शासनसत्ता के अधीन या एक खास शासकवर्ग द्वारा संचालित होता रहा है। यह बात सर्वविदित है कि किसानों का चौतरफा शोषण हुआ है, भले ही शोषण के तरीके अलग-अलग रहे हों। जैसे जमींदारों और साहूकारों द्वारा लगान वृद्धि, कर्ज-वसूली, बेदखली, सूदखोरी, श्रम का उचित मुवावजा न मिलना इत्यादि। हाँ, यह भी सच है कि समय-समय पर किसानों को प्रोत्साहन देने और उनके स्तर को ऊँचा उठाने का आश्वासन एवं तसल्ली देने की झूठी घोषणाएँ सरकार द्वारा होती रही हैं, लेकिन किसानों का दमन एवं उनका शोषण कल भी हो रहा था और आज भी जारी है। इस समय हमारे देश की सभ्यता एक ऐसे मोड़ पर है कि एक नयी सभ्यता, एक बनी बनाई (कृषि) सभ्यता को निगलने पर उतारू है। देश के हर कोने से खबरें आती रहती हैं कि किसान मर रहे हैं, किसान मारे जा रहे हैं। ढेर सारे किसान अपनी परिस्थितियों से मर रहे हैं और कई सरकारी व व्यवस्थागत प्रयासों से मारे जा रहे हैं। संजीव का 'फॉस' उपन्यास किसानों की इसी तरह के संकटग्रस्त जीवन को अपना उपजीव्य बनाकर चलता है।

'फॉस' उपन्यास किसानों की आत्महत्याओं के कारण और उसकी वस्तुस्थितियों को रेखांकित करता है। इस समय की प्रचंड औद्योगिकता के विकास के चपेट में किसान फॉस कर आत्महत्या कर रहे हैं। भले ही अनेक संसाधनों का उपयोग वह करता है, लेकिन उसका जीवन-रस प्रकृति से पुष्ट होता है। ऐसे में किसान का जीवन और व्यक्तित्व बहुत कुछ प्राकृतिक सरलता को अपनाकर चलता है, लेकिन मानवीय व्यवस्था अपनी जटिलता के कारण उस सरल जीवन को सहज नहीं रहने दे पा रही है। इस तरह की सहजता व जटिलता का द्वंद्व किसान जीवन को तोड़ रहा है। उपन्यास में शिवशंकर नामक किसान का परिवार इसी तरह के झंझावतों से जूझ रहा है। उपन्यास की शुरुआत ही शिवशंकर नामक पात्र के गाँव और उसके परिवार से होता है कि "भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा बन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा, आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंसे के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा-आधा।"¹

किसान के लिए सबसे बड़ी समस्या है- अपने उत्पादन के बदले कोई वस्तु प्राप्त करना। एक समय था, जब वस्तु-विनिमय के सहारे किसानों की पूरी अर्थव्यवस्था चलती थी, लेकिन मुद्रा-विनिमय की व्यवस्था ने किसान-संस्कृति को तोड़ डाला। अब किसान अपने उत्पादन के बदले पैसा प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसके कारण भी हैं। उपन्यास की पात्र सुनन्दा कहती है कि "किसान से साहूकार बनने चले थे न ! अन्न नहीं, पैसा चाहिए। कच्चा पैसा। थूक लगाकर हरी-हरी नोट गिनोगे। इस पर मोहन दादा ने क्या कहा था- लड़कों को फीस देनी है, क्या दोगी धान, जोआरी या कापूस ? रेल, बस में टिकट माँगेंगे, कौन-सा अन्न दोगी ? पैसा ! पैसा ! पैसा ! हर जगह पैसा ! तुम चाहो तो भी गुजरे ज़माने में नहीं लौट सकतीं, जब सामान से सामान की अदला-बदली हो जाती।"² इस पैसे को प्राप्त करने के लिए किसान को एड़ी-चोटी एक कर देनी पड़ती है। बीघे दो बीघे खेती हो तब भी उससे पैदा करने के लिए पूँजी चाहिए।

किसान के पास जो भी पूँजी होती है उसे खेत में लगा देता है। आवश्यकता पड़ने पर वह कर्ज लेने के लिए भी तैयार रहता है। यही कर्ज किसान जीवन का असली कर्ज है। 'गोदान' के होरी से लेकर 'फॉस' के शिबू, सुनील, सदानन्द तक इसी कर्ज से हार जाते हैं और उन्हें आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ता है। यह कर्ज किसानों के लिए फॉस ही साबित होता है। शिबू और शकुन बैंक के कर्ज को अदा कर देते हैं, तो उन्हें महसूस होता है कि- "लो साहब ऋण से मुक्ति दो। शिबू ने सारे रुपये उलट दिए बैंक मैनेजर की टेबल पर।...बैठ गया शिबू, प्यार से उसने हँसुली वाले गले के स्थान को सहलाया- दर्द हो रहा है ? नहीं ! उलटे हल्का लग रहा है। एक फॉस गले से निकल गयी।"³

कर्ज के साथ-साथ फसलें भी किसान के जीवन को प्रभावित करती हैं। अनाज वाली फसलों की खेती से किसानों में एक तरह का आत्मबल बना रहता है, चाहे जैसी परिस्थिति हो कम से कम उसे अपने परिवार को खिलाने लायक अनाज मिल जाता है, लेकिन सरकार की अदूरदर्शिता व कारपोरेट के षड्यंत्र के फलस्वरूप किसानों को 'बी.टी.काटन' जैसी खेती के लिए मजबूर होना पड़ता है। इन नकदी फसलों से किसान को पैसा तो प्राप्त हो सकता है, लेकिन परिस्थितियाँ बिगड़ने पर उसे वह खा नहीं सकता। खाने के लिए उसे खाने वाली फसल की जरूरत होती है। गुजरात, महाराष्ट्र के किसानों के सामने जब बी.टी. कपास की खेती का विकल्प आया तो उसमें बड़ी सम्भावनाएँ दिखीं और उसकी खूबियाँ गिनाई गयी थीं। कहा गया इसकी खेती की लागत सामान्य कपास के मुकाबले कम पड़ेगी और इसमें कीटनाशकों का खर्च भी कम आएगा, लेकिन नतीजे के तौर पर आज इस कपास के पीछे कई हजार किसानों को आत्महत्या तक का रास्ता तय करना पड़ा है। बी.टी. कपास उनके लिए मुसीबत बन जाती है। जब बी.टी. कपास से सम्बन्धित एक विदेशी कम्पनी ने भारत में अपने कदम रखे थे, तो उसने किसानों के लिए अपने को वरदान घोषित किया था, लेकिन उपन्यासकार ने कम्पनी की सच्चाई को एक पत्रकार के माध्यम से उपस्थित किया है कि- "वह 2002 का कोई मनहूस दिन था, जब सारी मनोकामनाओं की सिद्धि के लिए वरदान बनाकर पेश किया गया, मॉसेटो कम्पनी के बी.टी. काटन को। जगह थी गुजरात।"⁴ बी.टी.काटन की खेती शुरू हो जाने के बाद किसान की स्थितियाँ और भी भयावह हो जाती हैं। उपन्यास में किशोर तिवारी के रिपोर्ट चार्ट के माध्यम से बी.टी. काटन की खेती के दुष्परिणामों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है कि- "2006 में विदर्भ के 20 लाख किसानों में, 16 लाख शेतकरी बैंक डिफाल्टर, 1 लाख गंभीर बीमारी के शिकार, 4 लाख के पास व्याहने योग्य मुलगियाँ, 12 लाख शिक्षित बेरोजगार मुलगे, मुलगियाँ, इनमें से 19 लाख परिवार की जमीन सूखाग्रस्त। बी.टी. काटन धरती की कुल उर्वरता को सोख लेता है। 15 प्रतिशत से ज्यादा खाद देनी पड़ती है- महँगी खाद। ज्यादा सिंचाई, ज्यादा कीटनाशक और बारिश वाले क्षेत्र में यह परेशानी और भी ज्यादा। पत्तियाँ लाल रोग से ग्रस्त-सर्वाधिक सिंचाई की जरूरत पड़ती है अक्टूबर महीने में।"⁵ इस तरह की खेती में बड़ी-बड़ी कम्पनियों का हाथ है। उनका लम्बा मुनाफा इससे जुड़ा हुआ है। वे एक बहुत बड़ा संजाल तैयार रखते हैं, जिसमें देश के बड़े-बड़े नेता, मंत्री, उद्योगपति, मीडियाकर्मी और बौद्धिक लोग शामिल रहते हैं।

बी.टी. काटन जैसी फसलों की खेती को प्रोत्साहन के लिए इन सब का उपयोग किया जाता है। इतने बड़े-बड़े लोगों की स्वार्थी रणनीति के फन्दे में ये किसान फँसाए जाते हैं और धीरे-धीरे आत्महत्या के मुँह की ओर ढकेल दिए जाते हैं। अंततः बैंक और साहूकार का कर्ज न चुका पाने की हालत में हतभागा किसान कोई उपाय न सूझता देख इसकी खेती के लिए उपयोग में आने वाले कीटनाशकों को ही अपनी मुक्ति का जरिया बना बैठता है। उपन्यास का पात्र विजयेन्द्र एक रिपोर्ट पढ़ते हुए यह स्पष्ट करता है कि सरकारें व कारपोरेट के लोग मिलकर कैसे खेती व किसान को बर्बाद करते हैं कि "हम जो कुछ पढ़ते, देखते और सुनते हैं वह सिर्फ एक आभासीय चेहरा है। असल राजनीति और उसका अर्थशास्त्र तो समाज के कुछ खास वर्गों

के हाथ में है जो तय करते हैं कि रस्सी कब गले की टाई होगी, कब माला और कब फाँसी का फन्दा। यह सरासर लोकतान्त्रिक मूल्यों में कमी और बाज़ार के सामाजिक व्यवहार में बढ़ते हस्तक्षेप के कारण हुयी है।⁶ उदारीकरण की व्यवस्था ने पूँजीपतियों के अनुकूल माहौल तैयार करने में और सहयोग किया है। उसी रिपोर्ट के एक अंश को यहाँ लिया जा सकता है- “उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है बिल्कुल ठुस्स यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ज़ाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती हैं। उसकी सामाजिक जिम्मेवारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिन्दा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को ज़मीन की गुणवत्ता, सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं। कई नेता तो जानते ही नहीं कि आलू ऊपर फलता है कि नीचे, खेती धान की होती है, चावल की नहीं कि सरपत और गन्ने के पौधे में क्या फर्क है।”⁷ जहाँ इस तरह के हालात हों, नीति-निर्धारण करने वालों की हालत ऐसी है कि उन्हें अपने समाज की स्थिति और परिस्थितियों से कोई सरोकार नहीं। संसद में बैठकर झूठी बहस कराकर एक नीति पेश कर देने से कुछ होने वाला नहीं है। एक जागरूक किसान जो कि बाद में आत्महत्या कर लेता है, लेकिन एक स्थान पर अपने विचार प्रस्तुत करता है कि- “दिल्ली में बैठकर क्यों बना ली सरकारों ने हमारे गाँव की कायाकल्प की योजना ? क्यों जगाये सपने- बीटी बीज की तरह बाँझ सपने? मर गये लोग। हमसे पूछते, हम बताते- बड़े नहीं, छोटे-छोटे सपने चाहिए हमारे गाँव को। हवाई नहीं, धरती के ! गाय नहीं, बकरी। फिर सबसे ऊपर दान नहीं, पानी ! दान वापस ले लो। हमें सिर्फ सिंचाई के लिए थोड़ा-सा पानी दे दो।”⁸

उपन्यासकार एक तरह से आशावादी है। वह इसमें सम्भावना तलाश रहा है कि यदि नीति-निर्माण में किसानों को प्रत्यक्षतः शामिल किया जाये तो बहुत सी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। एक उपन्यासकार के रूप में संजीव का यह गुण अत्यंत सकारात्मक रहा है कि वे समस्याओं के निदान की सम्भावना को भी तलाश करने का प्रयास करते हैं। संजीव इस दृष्टि से संभावनाओं के व्याख्याकार हैं। उन्हें नई पीढ़ी में पूरी सम्भावना नज़र आती है। शिवशंकर की छोटी बेटा (कलावती) में उन्हें अच्छी सम्भावना दिखती है। छोटी के विचार प्रगतिशील और क्रांतिकारी हैं। संजीव ने उसके चरित्र के निर्माण में कोई कसर नहीं छोड़ रखा है। उसके मजबूत इरादों का प्रत्यक्ष प्रमाण है कोहबर की शर्त- जो कि अपने पति सुभाष से कहती है कि-

“मेरी एक शर्त मानोगे ? कोहबर की पहली शर्त !

सुभाष किंचित अप्रतिभ हुआ- “शर्त....?”

हम दोनों ने एक-दूजे का हर सुख-दुःख में साथ निभाने की शपथ ली है।

बोलो।

मुझे पढ़ने और बढ़ने से रोकोगे नहीं।

मंजूर है तो तुम मेरे, मैं तुम्हारी !”⁹

यहाँ छोटी की दृढ़ता और स्पष्टता ही है कि वह बिना किसी संकोच के बड़े से बड़े नेता और अधिकारी से बातें करके गाँव के लिए तमाम सुविधाएँ मुहैया कराती है और ‘मंथन’ जैसे कार्यक्रमों को आगे बढ़ाती है।

संजीव ने अशोक, विजयेन्द्र, सिंधूताई, दादाजी खोवागड़े जैसे पात्रों के माध्यम से सच्चे भविष्य की सम्भावना प्रस्तुत की है। उन्होंने उपन्यास में किसी भी तरह की निरर्थक प्रतिक्रियाओं से बचने का प्रयास करते हैं। शायद यही कारण रहा है जहाँ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी उनके इस पक्ष पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि- “यह संजीव की प्रौढ़ता है और शायद इसी कारण वे समकालीन रचनाकारों से इतना अलग हैं। वे किसी प्रतिक्रिया को लेकर उड़ नहीं पड़ते। उसे समझते-बूझते हैं। ऐतिहासिक नैतिकता की जिम्मेदारी से रचना धर्मिता का निर्वाह करते हैं।”¹⁰ फॉस के पात्र सकारात्मक दृष्टि रखने वाले यथार्थ जगत के पात्र हैं।

वे संघर्ष करते हैं और अपनी शक्ति भर लड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। सुनील जैसे जीवन के धनी पात्र कोई मामूली पात्र नहीं हैं। तिल-तिल कर मरते किसानों के लिए प्रेरणा पुरुष, लेकिन यथार्थ यह है कि वह भी आत्महत्या का शिकार हो जाता है।

‘फॉस’ उपन्यास में बौद्ध धर्म में परिवर्तित हिन्दू-दलित, पिछड़ों के जीवन यथार्थ को भी चित्रित किया गया है। धर्म बदल लेने के बावजूद भी ‘बनगाँव’ के किसान अपने धार्मिक कर्मकाण्डों और संस्कारों को नहीं छोड़ पाते हैं। आश्चर्य था, गाँव में अधिसंख्य दलितों के बौद्ध हो जाने के बाद भी संस्कार मंदिर के चलते थे। इसके बावजूद पात्र पूरी दृढ़ता के साथ वर्ण-व्यवस्था और उसके ढकोसलों के परिणामों को समझते हैं। शकुन अपने पति शिबू को चुनौती के लहजे में कहती है- *“तुम चुन-चुन कर हिन्दुओं के पास ही जाते हो। हिन्दू ठहरे न ! तुम्हारा जाति मोह तो तुम्हें खींचेगा ही।...बाबा साहब के लाख बुलाने पर भी जो न आ पाए, उन्हें तुम आदमी कहते हो ? केंचुए हैं, केंचुए ! बड़ी जात की हिन्दुओं की संक्रामक दहेज़ की बीमारी से बीमारअपने बगल के गाँव में नीलू और चन्दा के बाप को किसने मारा, फसल की बर्बादी ने ? नहीं...इन्हीं हिन्दुओं की इसी संक्रामक बीमारी ने।”*¹ ‘फॉस’ उपन्यास की पूरी संरचना पात्रों के संवादों पर निर्भर नहीं है, बल्कि कुछ परिस्थितियों को लेखक ने स्वयं उठाया है और किसानों के इर्द-गिर्द छाये जीवन व्यापारों को प्रस्तुत किया है। बनगाँव के किसानों का मुख्य काम खेती है। किसान के लिए खेती का कार्य सिर्फ खेती नहीं होती है, बल्कि यह उनकी जीवन प्रथा भी है। इसने (खेती ने) समाज में संबंधों का जाल बना है।

गाँव में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था एक दूसरे से जुड़ी हुयी है। सब लोग सभी की जरूरत हैं। बुजुर्ग, समवयस्क, और छोटों के साथ-साथ पशु-पक्षियों के बीच जो संबंध हैं, वह परिवार जैसा है। किसान के लिए उसके बैल ही भाई हैं और उसके परिवार भी, तभी तो उपन्यास के मोहन दादा बाघमारे अपने बैल को कसाई के हाथों बेच देने पर सोचते हैं कि *“भला मैं अपने भाई को कसाई के हाथों बेच सकता हूँ। मर जाता भाई मेरे यहाँ। ऐसे उसकी जान तो बच जाएगी।...बिक गया भाई ? कितने में ?”...उस कसाई को बेच दिए ?...पहले बैल को साँप ने डसा था और दूसरे को? तुमने !”... “मुझ पर थूको सिन्धु, थूको। कल तक मैं बाघमारे था, आज से भाई मारे ...!”*²

संजीव के उपन्यासों में आंकड़े खूब आते हैं। व्यौरों की भरमार रहती है। ‘फॉस’ उपन्यास भी इससे अछूता नहीं है, इसमें आंकड़े खूब जुटाए गये हैं। यह एक तरह की उनकी कमजोरी हो सकती है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में- *“यथार्थ का मतलब यथार्थ का आभास देना होता है, उसकी नकल करना नहीं, वो आभास एक शब्द से भी हो सकता है। संजीव की कोशिश ज्यादातर कहानियों, उपन्यासों में ब्यौरे देने की होती है, मानों वे कोई रिपोर्ट तैयार कर रहे हैं। तथ्यात्मकता इतनी हावी होती है कि इस प्रक्रिया में यथातथ्य की शिकार हो जाती है। छोटे-छोटे इतने व्यौरे होते हैं कि उनसे मनुष्य के आनेवाले चरित्र ही ओझल हो जाते हैं।”*³

यूँ तो किसानों की समस्याएँ पूरे देश में बराबर फैली हुई हैं, लेकिन महाराष्ट्र का विदर्भ अंचल विशेष रूप से समाचार-पत्रों के केंद्र में रहा है। संजीव ने इस क्षेत्र के ‘यवतमाल’ जिले के कुछ गाँवों को इस उपन्यास के कथा-फलक में समेटा है। खेती व मजदूरी करते परिवारों का जीवन कितनी कठिनाई से चलता है, यह उपन्यास बड़ी सहजता के साथ प्रस्तुत करता है। किसानों की आत्महत्या की घटनाएँ 1991 के उदारवादी अर्थव्यवस्था के आ जाने के बाद तेजी से बढ़ी हैं। ऐसा नहीं है कि आत्महत्याएँ पहले नहीं हुआ करती थीं, लेकिन 1991 के बाद के सालों से क्रमशः बढ़ती हुयी संख्या यह सोचने को मजबूर करती हैं कि कहीं इस नीतिगत बदलाव में ही आत्महत्या के कारण तो नहीं छुपे हुए हैं। अतः हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के सत्तर साल बाद भी ग्रामीण भारत और किसान बदहाल है। हरित क्रांति आने के बाद भी देश

में किसानों की स्थिति में कोई खास सुधार दिखाई नहीं देता। आज के समय में खेती-किसानी करना सिर्फ घाटे का सौदा रह गया है। वर्तमान समय में जहाँ सभी विकास की ओर उन्मुख हैं, ऐसे में किसान गरीबी की त्रासदी झेलने को विवश है। संजीव ने जिस प्रकार अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में पिछड़े, हाशिये पर पड़े लोगों को केंद्र में रखा है, उसी प्रकार 'फाँस' उपन्यास में भी हाशिये पर पड़ा एक समुदाय किसान ही केंद्र में है और इससे जुड़ी अनेक समस्याओं से पूरा उपन्यास आच्छादित है।

संदर्भ

- I. संजीव, 'फाँस' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-9
- II. वही, पृष्ठ-41
- III. वही, पृष्ठ-64-65
- IV. वही, पृष्ठ-187
- V. वही, पृष्ठ-181
- VI. वही, पृष्ठ-109
- VII. वही, पृष्ठ-109
- VIII. वही, पृष्ठ-72
- IX. संजीव, 'फाँस' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-125
- X. जोशी, अपूर्व (सं.) पाखी, वर्ष-1, अंक-12, सितम्बर-2009, पृष्ठ-114
- XI. संजीव, 'फाँस' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-90
- XII. वही, पृष्ठ-51-52
- XIII. जोशी, अपूर्व (सं.), पाखी, वर्ष-1, अंक-12, सितम्बर-2009, पृष्ठ-111

शिवानन्द सिंह

शोधार्थी

हिन्दी अध्ययन केंद्र

गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय

गांधीनगर

Copyright © 2012 - 2019 KCG. All Rights Reserved. | Powered By: Knowledge Consortium of Gujarat